❐ उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि

धर्म का अन्तर्हृदय

मानव जीवन एक ऐसा जीवन है, जिसका कोई भौतिक मूल्य नहीं आंका जा सकता। बाहर में उसका एक रूप दिखाई देता है, उसके अनुसार वह हड्डी, माँस और मज्जा आदि का एक ढाँचा है, गोरी या काली चमड़ी से ढँका है, कुछ विशिष्ट प्रकार का रंग-रूप है, आकार-प्रकार है, किन्तु यही सब मनुष्य नहीं है। आँखों से जो दिखाई दे रहा है, वह तो किवल मिट्टी का एक खिलौना है, एक ढाँचा है, आखिर कोई न कोई रूप तो इस भौतिक शरीर का होता ही। भौतिक तत्त्व मिलकर मनुष्य के रूप में दृश्य हो गए। आँखें क्या देखती हैं? वे मानव के शरीर से सम्बन्धित भौतिक रूप को ही देख पाती हैं। अन्तर की गहराई में अदृश्य को देखने की क्षमता आँखों में नहीं है। ये चर्मचक्षु मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और परिचय नहीं करा सकते।

शास्त्र में ज्ञान दो प्रकार के बताए गए हैं, एक ऐन्द्रिय और दूसरा अतीन्द्रिय। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है, जो भौतिक है, उसे भौतिक इन्द्रियाँ देख सकती हैं। पर, इस भौतिक देह के भीतर, जो चैतन्य का विराट रूप छिपा है, जो एक अखण्ड लौ जल रही है, जो परम देवता कण-कण में समाया हुआ है, उस अतीन्द्रिय को देखने की शक्ति आँखों में कहाँ है? मनुष्य का जो सही रूप है, वह इतना ही नहीं है कि वह शरीर से सुन्दर है और सुगठित है! एक आकृति है, जो सजी-सँवरी है। यदि यही कुछ मनुष्य होता, तो रावण, दुर्योधन और जरासंध भी मनुष्य थे। उनका शरीर भी बड़ा बलिष्ठ था, सुन्दर था। पर, संसार ने उन्हें बड़े लोगों में गिनकर भी सत्पुरुष नहीं माना, श्रेष्ठ मनुष्य नहीं कहा। पुराणों में रावण को राक्षस बताया गया है। दुर्योधन और जरासंध को भी उन्होंने मानव के रूप में नहीं गिना। ऐसा क्यों? इसका कारण है, उनमें आत्मिक सौन्दर्य का अभाव! देह कितनी ही सुन्दर हो, पर, जब तक उसके अन्दर सोयी हुई आत्मा नहीं जागती है, आत्मा का दिव्य रूप नहीं चमकता है, तब तक वह देह सिर्फ मिट्टी का घरौंदा भर है, वह सूना मन्दिर मात्र है, जिसमें अब तक देवता की योग्य प्रतिष्ठा नहीं हुई है।

इस देह के भीतर आत्मा अँगड़ाई भर रही है या नहीं? जागृति की लहर उठ रही है या नहीं? यही हमारी इन्सानियत का पैमाना है। हमारे दर्शन की भाषा में देवता वे ही नहीं हैं, जो स्वर्ग में रहते हैं, बल्कि इस धरती पर भी देवता विचरण किया करते हैं, मनुष्य के रूप में भी देव हमारे सामने घूमते रहते हैं। राक्षस और दैत्य वे ही नहीं हैं, जो जंगलों, पहाड़ों में रहते हैं और रात्रि के गहन अन्धकार में इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं, बल्कि मनुष्य की सुन्दर देह में भी बहुत से राक्षस और पिशाच छुपे बैठे हैं। नगरों और शहरों की सभ्यता एवं एकाचौंध में रहने वाला ही इन्सान नहीं है, हमारी इन्सानियत की परिभाषा कुछ और है। तत्त्व की भाषा में, इन्सान वह है, जो अन्दर की आत्मा को देखता है और उसकी पूजा करता है, उसकी आवाज सुनता है और उसकी बताई राह पर चलता है।

'जन' और 'जिन' :

जिस हृदय में करुणा है, प्रेम है परमार्थ के संकल्प हैं और परोपकार की भावनाएँ हैं, वही इन्सान का हृदय है। आप अपने स्वार्थों की सड़क पर सरपट दौड़े चले जा रहे हैं, पर चलते-चलते कहीं परमार्थ का चौराहा आ जाए, तो वहाँ रूक सकते हैं या नहीं? अपने भोग-विलास की काली घटाओं में घिरे बैठे हैं, पर क्या कभी इन काले बादलों के बीच परोपकार और त्याग की बिजली भी चमक पाती है या नहीं? यदि आपकी इन्सानियत मरी नहीं है, तो वह ज्योति अवश्य ही जलती होगी!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपको मालूम है कि हमारा ईश्वर कहां रहता है? वह कहीं आकाश के किसी वैकुण्ठ में नहीं बैठा है, बल्कि वह आपके मन के सिंहासन पर बैठा है, हृदय मन्दिर में विराजमान है वह। जब बाहर की आँख मूंदकर अन्तर में देखेंगे, तो उसकी ज्योति जगमगाती हुई पाएँगे, ईश्वर को विराजमान हुआ देखेंगे।

ईश्वर और मनुष्य अलग-अलग नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा सर्वथा भिन्न दो तत्त्व नहीं हैं। नर और नारायण दो भिन्न शक्तियाँ नहीं हैं। जन और जिन में कोई अन्तर नहीं है, कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। आध्यात्मिक दर्शन की भाषा में कहा जाए, तो सोया हुआ ईश्वर जीव है, संसारी प्राणी है, और जागृत जीव ईश्वर है, परमात्मा है। मोहमाया की निद्रा में मनुष्य जब तक अन्धा हो रहा हो, वह जन है, और जब जन की अनादि काल से समागत मोह-तन्द्रा टूट गई, जन प्रबुद्ध हो उठा, तो वही जिन बन गया। जीव और जिन में, और क्या अन्तर है? जो कर्म-लिप्त दशा में अशुद्ध जीव है, कर्म-मुक्त दशा में वही शुद्ध जीव जिन है।

'कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्तस्तथा जिनः'

बाहर में बिन्दु की सीमाएँ हैं, एक छोटा-सा दायरा है। पर, अन्तर में वही विराट् सिन्धु है, उसमें अनन्त सागर हिलोरें मार रहा है, उसकी कोई सीमा नहीं, कोई किनारा नहीं। एक आचार्य ने कहा है —

''दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्त-चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय, नमः शान्ताय तेजसे!''

जब तक हमारी दृष्टि देश-काल की क्षुद्र सीमाओं में बँधी हुई है, तब तक वह अनन्त सत्य के दर्शन नहीं कर पाती और जब वह देश-काल की सीमाओं को तोड़ देती है, तो उसे अन्दर में अनन्त, अखण्ड, देशातीत एवं कालातीत चैतन्य ज्योति के दर्शन होते हैं। एक दिव्य, शान्त, तेज का विराट् पुंज परिलक्षित हो जाता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रकाशमान हो जाती हैं। हर साधक उसी शान्त तैजस रूप को देखना चाहता है, प्रकट करना चाहता है। साधक के लिए वही नमस्करणीय उपास्य है।

चैतन्य कैसे जगे?

हमें इस बात पर भी विचार करना है कि जिस विराट् चेतना को हम जगाने की बात कहते हैं, उस जागरण की प्रक्रिया क्या है? उस साधना का विशुद्ध मार्ग क्या है? हमारे जो ये क्रियाकाण्ड चल रहे हैं, बाह्य तपस्याएँ चल रही हैं, क्या उससे ही वह अन्तर का चैतन्य जाग उठेगा? केवल बाह्य साधना को पकड़ कर चलने से तो सिर्फ बाहर और बाहर ही घूमते रहना होता है, अन्दर में पहुँचने का मार्ग एक दूसरा है और उसे अवश्य टटोलना चाहिए। आन्तरिक साधना के मार्ग से ही अन्तर के चैतन्य को जगाया जा सकता है। उसके लिए आन्तरिक तप और साधना की जरूरत है। हृदय में कभी राग की मोहक लहरें उठती हैं, तो कभी द्वेष की ज्वाला दहक उठती है। वासना और विकार के आँधी-तूफान भी आते हैं। इन सब द्वन्द्वों को शान्त करना ही अन्तर की साधना है। आँधी और तूफान से अन्तर का महासागर क्षुब्ध न हो, समभाव की जो लौ जल रही है, वह बुझने नहीं पाए, बस यही चैतन्य देव को जगाने की साधना है। यही हमारा समत्व योग है। समता आत्मा की मूल स्थिति है, वास्तविक रूप है। जब यह वास्तविक रूप जग जाता है, तो जन में जिनत्व प्रकट हो जाता है। नर से नारायण बनते फिर क्या देर लगती है? इसलिए अन्तर की साधना का मतलब हुआ समता की साधना। राग-द्वेष की विजय का अभियान!

क्या कर्म ने बाँध रखा है?

साधकों के मुंह से बहुधा एक बात सुनने में आती है कि हम क्या करें? कर्मों ने इतना जकड़ रखा है कि उनसे छुटकारा नहीं हो पा रहा है! इसका अर्थ है कि कर्मों ने बेचारे साधक को बाँध रखा है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कर्म कोई रस्सी है, साँकल है, जिसने आपको बाँध लिया है? यह प्रश्न गहराई से विचार करने का है कि कर्मों ने आपको बाँध रखा है या आपने कर्मों को बाँध रखा है? यदि कर्मों ने आपको बाँध रखा है, तो फिर आपकी दासता का निर्णय कर्मों के हाथ में होगा और तब मुक्ति की बात तो छोड़ ही देना चाहिए। ऐसी स्थिति में जप, तप और आत्मशुद्धि की अन्य क्रियाएँ सब निरर्थक हैं। जब सत्ता कर्मों के हाथ में सौंप दी है, तो उनके ही भरोसे रहना चाहिए। कोई प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? वे जब तक चाहेंगे, आपको बाँधे रखेंगे और जब मुक्त करना चाहेंगे, आपको मुक्त कर देंगे। आप उनके गुलाम हैं। आप का स्वतन्त्र कर्तृत्व कुछ अर्थ नहीं रखता। किन्तु, जब यह माना जाता है कि आपने कर्मों को बाँध रखा है, तो बात कुछ और तरह से विचारने की हो जाती है। इस से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कर्म की ताकत से आपकी ताकत ज्यादा है। बँधने वाला गुलाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, बाँधने वाला मालिक। गुलाम से मालिक बड़ा होता है। तो, जब हमने कर्म को बाँधा है, तो फिर उन्हें छोड़ने की शक्ति किसके पास है, जिसने बाँधा है उसी के पास ही है न? स्पष्ट है, कर्मों को छोड़ने की शक्ति आत्मा के पास ही है, चैतन्य के पास ही है, मतलब यह कि आपके अपने हाथ में ही है। हमारा अज्ञान इस शक्ति को समझने नहीं देता है, अपने आपको पहचानने ही नहीं देता है, यही तो हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है।

अध्यात्म-दर्शन ने हमें स्पष्ट बतला दिया है कि जो भी कर्म है, वे सब तुमने बाँधे हैं, फलतः तुम्हीं उन्हें छोड़ भी सकते हो – *'बंधपमोक्खो तुज्ज अज्झत्थेव'*– बंधन और मुक्ति हर व्यक्ति के अपने अन्तर में ही है।

बन्धन क्या है?

कर्म के प्रसंग में हमें एक बात और विचार लेनी चाहिए कि कर्म क्या है और जो बन्धन होता है, वह क्यों होता है?

अन्य पुद्गलों की तरह कर्म भी अचेतन जड़-पुद्गल है, परमाणु पिण्ड है। कुछ पुद्गल अष्टस्पर्शी होते हैं, कुछ चतुःस्पर्शी। कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। आत्मा के साथ चिपकने या बँधने की स्वतन्त्र शक्ति उनमें नहीं है, न वे किसी दूसरे को बाँध सकते हैं और न स्वयं ही किसी के साथ बँध सकते हैं।

हमारी मन, वचन आदि की क्रियाएँ प्रतिक्षण चलती रहती हैं। खाना-पीना, हिलना-डोलना, बोलना आदि कुछ क्रियाएँ तो महापुरुषों के जीवन में भी चलती रही हैं। जीवन में क्रियाएँ कभी बन्द नहीं होतीं। यदि हर क्रिया के साथ कर्म बन्ध होता हो, तब तो मानव की मुक्ति का कभी प्रश्न ही नहीं उठेगा। चूंकि जब तक जीवन है, संसार है, तब तक क्रिया बन्द नहीं होती, पूर्ण अक्रियदशा (अकर्म स्थिति) आती नहीं। और जब तक क्रिया बन्द नहीं होती, तब तक कर्म बँधते रहेंगे, तब तो फिर यह कर्म एक ऐसा सरोवर हुआ, जिसका पानी कभी सूख ही नहीं सकता, कभी निकाला ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में मोक्ष क्या होगा? और कैसे होगा?

सिद्धान्त यह है कि क्रिया करते हुए कर्मबंध होता भी है, और नहीं भी। जब क्रिया के साथ राग-द्वेष का सम्मिश्रण होता है, प्रवृत्ति में आसक्ति की चिकनाई होती है, तब जो पुद्गल आत्मा के ऊपर चिपकते हैं, वे कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस-जिस शुभ या अशुभ विचार और अध्यवसाय के साथ वे कर्म-ग्रहण होते हैं, उसी रूप में वे परिणत होते चले जाते हैं। विचारों के अनुसार उनकी अलग-अलग रूप में परिणति होती है। कोई ज्ञानावरण रूप में, तो कोई दर्शनावरण आदि के रूप में। किन्तु जब आत्मा में राग-द्वेष की भावना नहीं होती, प्रवृत्ति होती है, पर, आसक्ति नहीं होती, तब कर्म-क्रिया करते हुए भी कर्म-बँध नहीं होता।

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि इस जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाएँ कि कर्म करते हुए, खाते-पीते, सोते-बैठते हुए भी कर्म बन्ध न हो, तो उन्होंने कहा –

''जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बंधई।''

–दशवैकालिक, ४, ८

तुम सावधानी से चलो, खड़े रहो तब भी सावधान रहो, सोते-बैठते भी प्रमाद न करो। भोजन करते और बोलते हुए भी उपयोग रखो कि कहीं मन में राग और आक्रोश की लहर न उठ जाए। यदि जीवन में इतनी जागृति है, सावधानी है, अनासक्ति है, तो फिर कहीं भी विचरण करो, कोई भी क्रिया करते रहो, पापकर्म का बँध नहीं होगा।

इसका मतलब यह हुआ कि कर्म-बंध का मूल कारण प्रवृत्ति नहीं, बल्कि राग-द्वेष की वृत्ति है। राग-द्वेष का गीलापन जब विचारों में होता है, तब कर्म की मिट्टी का गोला आत्मा की दीवार पर चिपक जाता है। यदि विचारों में सूखापन है, निस्पृह और अनासक्त भाव है, तो सूखे गोले की तरह कर्म की मिट्टी आत्मा पर चिपकेगी ही नहीं।

वीतरागता ही जिनत्व है :

एक बार हम विहार काल में एक आश्रम में ठहरे हुए थे। एक गृहस्थ आया और गीता पढ़ने लगा। आश्रम तो था ही। इतने में एक सन्यासी आया, और बोला - ''पढ़ी गीता, तो घर काहे को कीता?''

मैने पूछा – ''गीता और घर में परस्पर कुछ वैर है क्या? यदि वास्तव में वैर है, तब तो गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण का भी घर से बैर होना चाहिए और तब तो गृहस्थ को तो छोड़िए, आप साधुओं को भी गीता के उपदेश से मुक्ति नहीं होगी।''

साधु बोला – हमने तो घर छोड़ दिया है।

मैंने कहा – घर क्या छोड़ा है, एक साधारण घोंसला छोड़ा, तो दूसरे कई अच्छे विशाल घोंसले बसा लिए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहीं मन्दिर, कहीं मठ और कहीं आश्रम खड़े हो गए। फिर घर कहाँ छूटा है?

सन्यासी ने कहा – हमने इन सब का मोह छोड़ रखा है।

मैंने कहा – हाँ, यह बात कहिए। असली बात मोह छोड़ने की है। घर में रहकर भी यदि कोई मोह छोड़ सकता है, तो बेड़ा पार है। घर बन्धन नहीं है, घर का मोह बन्धन है। कभी-कभी घर छोड़ने पर भी घर का मोह नहीं छूटता है और कभी घर नहीं छोड़ने पर भी, घर में रहते हुए भी, घर का मोह छूट जाता है।

बात यह है कि जब मोह और आसक्ति छूट जाती है, तो फिर कर्म में ममत्व नहीं रहता। अहंकार नहीं रहता। उसके प्रतिफल की वासना नहीं रहती। जो भी कर्म, कर्तव्य करना है, वह सिर्फ निष्काम और निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। उसमें त्याग और समर्पण का उच्च आदर्श रहना चाहिए। सच्चा निर्मल, निष्काम कर्मयोगी जल में कमल की तरह संसार से निर्लिप्त रहता है। वह अपने मुक्त जीवन का सुख और आनन्द स्वयं भी उठाता है और संसार को भी बाँटता जाता है। मनुष्यता का यह जो दिव्य रूप है, वही वास्तव में नर से नारायण का रूप है। इसी भूमिका पर जन में जिनत्व का दिव्य भाव प्रकट होता है। इन्सान के सच्चे रूप का दर्शन इसी भूमिका पर होता है। इस माँसपिण्ड के भीतर जो सुप्त ईश्वर और परमात्म तत्त्व है, वह यहीं आकर जागृत होता है।

■

❐ बनेचन्द मालू

आदमी नहीं था

किसी बेचारे का एक्सीडेंट हो गया।
कार तो भाग गई पर लोगों को भी नहीं आई दया।
खून से लथपथ पड़ा था सड़क पर।
कोई पास के अस्पताल नहीं ले जा रहा था,
क्योंकि पुलिस का था डर।
सवालों का जवाब देना होगा।
कैसे हुआ, किसने देखा, कहना होगा।
बाद में थाना भी जाना होगा, कोर्ट में देनी होगी गवाही।
इस तरह घसीटा जाना पड़ेगा, क्यों लें ऐसी वाह वाही।
समय बीत गया, बेचारा ढेर हो गया।
किसी नवयुवती का सिंदूर, नन्हें बच्चों की आशा,
चिर निद्रा में सो गया।
घर में कोहराम मच गया, मातम छा गया।
हंसी-खुशी भरे जीवन को काल-चक्र खा गया।
आने जाने वाले सान्त्वना दे रहे थे।
पूछ-पूछ कर घटना का जायजा ले रहे थे।
एक औरत अफसोस जता रही थी,
कह रही थी व्यस्त सड़क थी भीड़ तो बहुत थी।
फिर पड़ा क्यों रहा, अस्पताल भी पास में वहीं था।
मैंने कहा भीड़ तो बहुत थी,
अस्पताल भी पास में वहीं था,
पर भीड़ में कोई आदमी नहीं था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org